

श्री श्री पिताजी

पिताजी ने नाना प्रकार से मुझे स्नेह देकर एवं मुझे अपने धर्मपुत्र के रूप में ग्रहण कर मेरे जीवन को धन्य किया है। प्रथम दर्शन से ही मैंने पिताजी का स्नेह पाया। यही स्नेह मुझे जीवन के प्रत्येक पद पर संरक्षित करता हुआ महागुरु के रूप में मेरा पथ-निर्देशक हुआ। पहल मैं सोचता था कि बिना माँ के पाये पिता को नहीं पा सकता किन्तु आज बाध्य होकर मुझे यह कहना पड़ रहा है कि पिताजी को पाकर उनकी दया के द्वारा ही माँ को पाया। लौकिक हिसाब से माँ का दर्शन लाभ उनकी सर्वहितकारी महानता तथा करुणा के बिना किसी के भी भाग्य में नहीं प्राप्त हो सकता। ऐसी अनेक संन्यासिनी माताओं की बात भी सुनी गयी है जिन्होंने पति के विरुद्ध होने के कारण घर की सीमा में ही रह कर धर्मजीवन बिताया है।

हम लोग सांसारिक जीव हैं, दुःख दैन्य दुर्बलता के लिये जीवन पथ पर चलते रहते हैं, पिताजी ने हम लोगों के मन की अनेक मलिनताएँ हमें दिखाकर हमारे मन को निर्मल किया है। मेरे दारुण रोग में उनकी शुभचिन्ता तथा आशीर्वाद मेरे पुनर्जीवन दान का प्रधान उपकरण हुए। एक दिने सिद्धेश्वरी आश्रम जाने पर मेरी पुरानी बीमारी फिर से न उभड़ जाये, इस डर से हठात् पिताजी भावावेश में मुझे खींच कर माँ की गोद में बिठाते हुए बोले, “तुम्हारा लड़का तुम्हें सौंप रहा हूँ, अब उसकी रक्षा का भार तुम पर है।”

श्री श्री माँ से सुना है कि अनेक वर्ष पहले पिताजी की दोनों भौंहों के बीच एक ज्योति किरण का प्रकाश माँ ने देखा था। जप,

तप, यज्ञ और पूजा में पिताजी की एकाग्रता और एकनिष्ठता असाधारण थी।

पिताजी के भीतर कौन सी अद्भुत अन्तर्निहित शक्ति चुपचाप काम करती है उसे समझने की शक्ति हममें नहीं है। वे वास्तव में ही आशुतोष भोलानाथ हैं, अपना आनन्द दूसरों को देकर उनके आनन्द में ही भरपूर रहते हैं। जो उनके संसर्ग में आये हैं वे जानते हैं कि उनके चरित्र में कैसी एक अपूर्व मधुरता है। उनके आशीर्वाद के लिए सभी लालायित रहते हैं। बच्चों के साथ उनका हास-परिहास छेड़छाड़ दर्शनीय है। उनके बच्चों जैसे सरल स्वभाव को देख श्री श्री माँ भी उनका “गोपाल” कह कर परिचय देती हैं। पिताजी का हृदय इतना विशाल तथा उदार है कि वे माँकी शक्ति रूप में पूजा करने में तनिक भी संकुचित नहीं होते। पिताजी को बहुत लोग क्रोधी समझते हैं। किन्तु जो उनके संसर्ग में आकर तनिक भी घनिष्ठ हुए हैं वे जानते हैं कि जिस प्रकार वाङ्वाग्नि की शिखा के मूल में शीतल जल का प्रस्रवण रहता है, ठीक उसी प्रकार उनके क्रोध के ओट में स्नेह और करुणा की धारा बहती है। दूसरों की मंगल-कामना, हितसाधना ही उनका व्रत है, वे किसी को विमुख नहीं करते।

पिताजी कहते हैं “भोग और त्याग एक ही मन की दो जुँडवीं मूर्तियाँ हैं। यह शरीर बाह्य आभूषण मात्र है। जितना जीव का ईश्वर-भाव बलवान होता है उतना ही दोनों की अविच्छिन्न मंगलमूर्ति का उससे ज्ञान होता है।

ऐसा दिन शीघ्र ही आवेगा जब पिताजी के चरणों में बहुत से आर्त जीव परमार्थ लाभ की आशा से आयेंगे।^१

१. १३४५ बंगाब्द के २४ वैशाख को देहरादून में पिताजी का महानिर्वाण हुआ।

अपनी बात

मेरे बन्धु, बान्धव, स्वजन, परिचित यहाँ तक कि अपरिचित के मन में भी मेरे वर्तमान जीवन के प्रति जिज्ञासा है, इस कारण बाध्य होकर मुझे अपने विषय में भी कुछ लिखना पड़ रहा है।

पहले यह बताना जरूरी है कि मैं माँ की इतनी भक्ति क्यों करता हूँ। इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। लेकिन ऐसा प्रश्न होने पर कि 'मैं उनके चरणों से दूर हट सकता हूँ?' मैं चुप रह जाता। मेरे मन प्राण उनके चरण-आश्रय ही में पड़े रहते हैं। कभी कभी तो ऐसा लगता है कि उनकी चिंता स्थगित होने से मेरा जीवन भी समाप्त हो जायेगा। मुझे किसी परमार्थ की सिद्धि की इच्छा नहीं है। यदि कोई ऐसा कहे कि मैं रोगमुक्त हो उनका शरणागत हो गया हूँ, तो यह भूल है। उनकी दिव्य विभूतियों के आकर्षण ने मुझे उनके पास खींचा है, यह भी नहीं है। उनके विश्वव्यापी वात्सल्य ने स्वतः स्फुरित होकर मुझको हर प्रकार से असहाय की भाँति बाँध लिया है। उनके स्नेह की छाया को छोड़कर दूर जाने की न तो मेरी इच्छा है, न सामर्थ्य ही है।

एक बात और कह सकता हूँ कि उनके दोनों चरण-कमल जो मुझे अखण्ड आनन्द प्रदान करते हैं उसका एक अंश भी पार्थिव या अपार्थिव कोई भी वस्तु नहीं दे सकती और न साधन-भजन ही दे सकता है। यही मेरा बन्धन है और इस बन्धन को ही मैं परम मुक्ति मानता हूँ।

माँ कहती हैं, "मैं ही तुझे संसार की सीमा से बाहर लायी हूँ, तेरे जैसे विलासप्रिय को संसार से खींचना सहज न था।" मैं भी अच्छी तरह समझता हूँ कि मेरे मन की जो विक्षिप्त दशा थी उनकी अहैतुकी करुणा के बिना उनके आश्रय में पड़ा रहना मेरे लिए असम्भव ही था। माँ ने और भी कहा, "यह कोई नहीं समझता कि संसार के घेरे में पड़े रहने से बहुत पहले तू निधन को प्राप्त हो जाता।" माँ की इस अमोघ वाणी की सत्यता मैं सदा अन्तर में अनुभव करता हूँ।

मेरी स्त्री मेरे साधन-पथ में अनुकूल ही रही। वह जन्म ही से खूब अभिमानिनी है। धनवान् सम्भ्रान्त परिवार की प्रथम संतान होने के कारण उनमें आत्ममर्यादा और कुलीनता का भाव नस-नस में भरा है। आठ नौ वर्ष की आयु में जब मैंने पहले पहल उन्हें देखा था तब इनकी निर्मल सरलता का जो चित्र मेरी आँखों में खिंचा था वह आज भी वर्तमान है।

माँ से जब मेरा प्रथम साक्षात्कार हुआ तब मातृचरणों की पूजा में वे मेरी प्रधान सहायिका थीं। मेरे वर्तमान जीवन के प्रारम्भ में वे माँ की सब भाँति श्रद्धा करती थीं किन्तु आजकल जन्मगत अभिमान के वशीभूत हो उनका भाव-विद्रोह जग गया है, स्वयम् आड़ में पड़ी रहकर वह अपना प्रारब्ध क्षय कर रही हैं।

मैं जितना ही माँ का शरणागत होता गया, एवं संसार और समाज के प्रति उदासीन होने लगा, इतना वैराग्य मेरी स्त्री को न सुहाया। वे एक दिन बोलीं, क्या घर में बैठ कर धर्म नहीं हो सकता? यों ही दौड़-भाग करना शरीर के ऊपर अत्याचार

करना, बच्चों की ओर ध्यान न देना, ऐसा धर्म पालन न करना ही अच्छा है ।” मैं उन्हें समझाने की चेष्टा करता कि संसार की शृंखला तोड़ने की चेष्टा करते ही मनुष्य संसार की दृष्टि में उच्छृंखल प्रतीत होता है । वास्तव में कुछ उच्छृंखल हुए बिना संसार के भोगों से दूर रहकर मनुष्य का धर्मपथ की ओर जाना सहज नहीं है ।

किन्तु मेरे इस प्रबोध-वाक्य का कुछ भी फल न हुआ । ११ अथवा १२ वर्ष पहले एक दिन वे सहसा कह उठीं “आपका जिस प्रकार का भाव देख रही हूँ, आपका बाहर या घर में रहना दोनों हमारे लिए एक ही है ।” मैंने हँसते-हँसते कहा “यदि संन्यासी होकर कहीं दूर चला जाऊँ तो तुम लोगों को कुछ कष्ट नहीं होगा ?” उन्होंने अभिमान से कहा, “कदापि नहीं ।” लड़का लड़की सब छोटे थे वे भी वहीं उपस्थित थे । मैंने एक नोटबुक में यह लिख कर रख लिया । ऐसी बातें हम लोगों में बहुत बार हुआ करती थीं । निरंजन उन्हें विशेष रूप से समझाने की चेष्टा करते किन्तु वे किसी तरह भी शान्त न होतीं ।

इसके बाद मुझे वही असाध्य बीमारी हुई । उन्होंने दैवी सहिष्णुता और धैर्य के साथ अपनी जरा भी परवाह न करते हुए बहुत ही स्थिर मन से मेरी सेवा की । प्रतिकूल घटनाओं का आघात सहते हुए ऐसी एकनिष्ठ इच्छा-शक्ति को जाग्रत रखना बहुत कम ही दिखाई पड़ता है ।

मेरे अच्छे होने से कुछ पहले उनका अत्यन्त प्रिय छोटा भाई मृत्यु को प्राप्त हुआ । उससे उनका मन एकदम निर्जीव सा हो गया । इसके बाद वे प्रत्येक विषय में निरुत्साही हो गयीं । श्री

श्री माँ के प्रति मेरा प्रबल आकर्षण उन्हें पहले से ही नहीं रुचता था, अब इस विषय में वे बिल्कुल विरुद्ध हो गयीं, बच्चे भी उन्हीं के रङ्ग में रङ्ग गये ।

उन लोगों को ऐसा लगने लगा मानो मैं उनसे दूर होता चला जा रहा हूँ । वे ही नहीं वरन् मेरे और सब कुटुम्बी भी मेरे इस आचरण को अनुचित समझने लगे, यहाँ तक कि मेरे बड़े भाई सतीशचन्द्र राय जिनके साथ मेरा बहुत प्यार था, जो सर्वदा धर्म, शास्त्र, नीति की मर्यादा की रक्षा करते थे उन्होंने भी एक दिन लिख भेजा “तुम किस ओर जा रहे हो समझ में नहीं आता, स्त्रियों का आश्रय ले कोई भी कभी परमार्थ लाभ कर सका, ऐसा किसी इतिहास में नहीं पढ़ा गया है, मुझे डर है कि तुम्हारी त्रिशंकु की तरह अवस्था न हो जाय ।”

मैंने देखा कि जब स्वयम् अपनी अवस्था नहीं समझ पाता तो दूसरों को कैसे समझा सकता हूँ । इसी कारण माँ के विषय में पत्नी से बातें करना प्रायः बन्द सा हो गया । फल यह हुआ कि सभी और विशेष कर मेरी पत्नी एकदम मर्माहत होकर मेरे बिल्कुल विरुद्ध हो गयीं और मेरे आचरण को अनुचित कहने में तनिक भी संकुचित न हुईं ।

लौकिक धर्म और समाज के सम्मुख पति-पत्नी का बन्धन अटूट है, यहाँ तक कि ऐसी जनश्रुति है कि स्वर्ग जाने पर भी एक के लिए दूसरे को प्रतीक्षा करनी पड़ती है । इस कारण ऐसे अटूट बन्धन में शिथिलता आने पर मन में तूफान सा उठना खूब ही स्वाभाविक है । मैं चुपचाप सब विरोधों को सहता हुआ माँ से

प्रार्थना करता, “माँ इन लोगों को सद्बुद्धि दो, शान्ति दो ।” इन लोगों के ऐसे व्यवहार से मैं संसार से दूर हटता गया ।

संसार को मिथ्या कहकर धर्म-पथ की ओर अग्रसर होना मेरा लक्ष्य न था । मेरी शिक्षा भी ऐसी थी कि जब तक मैं सत्य हूँ तब तक सब सत्य है । फिर भी जिस मूल सत्ता के आधार पर समस्त प्राणियों के सत्ता का प्रकाश है उस ईश्वरी चेतना में प्रतिष्ठित रहने के लिए संसार के प्रति आकर्षण कम होना उमर अधिक होने पर स्वाभाविक ही है, क्योंकि ईश्वर चिन्ता रूप औषधि के साथ-साथ एकान्तवास रूप पथ्य भी अत्यन्त आवश्यक है । जीवन भर संसार में फँसे रहना तो किसी शास्त्र में भी नहीं लिखा है ।

मैं अपनी स्त्री की बात जब सोचता, तब मुझे लगता कि उसकी सब प्रतिकूल चेष्टाओं के मूल में उसकी पति पुत्र के प्रति भावी मंगल कामना थी । उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से श्री श्री माँ के सङ्ग का वर्जन किया है सही, किन्तु वे प्रत्येक विचार और कार्य में विरुद्धभाव से श्री श्री माँ की ही उग्र साधना कर रही हैं ।

‘श्री श्री माँ की शुभ इच्छा ही जययुक्त हो ।’

श्री श्री माँ कहती हैं

(१) एक छोटा बच्चा जिस प्रकार स्कूल जाता है उसी भाव से गुरु के पास जाओ । परमार्थ की ओर जितना खाली होकर जाओगे भगवान् उतना ही भर देंगे । सब उनको देने पर तुम्हारा भी सब—अन्तर और बाहर—पूर्ण कर देंगे ।

(२) जीवन में अनेक बुद्धि के खेल खेले हैं । हार-जीत जो होने को थी हो गयी । अब निराश्रित की तरह उनकी ओर देख और उनको समर्पित हो जा । फिर तुझे और कुछ सोचना न पड़ेगा ।

(३) जीव की देह की ओर लक्ष्य न रखकर आत्मा की ओर लक्ष्य रखकर जीव-सेवा कर, तब प्रत्यक्ष ही देखेगा कि सेवा, सेव्य और सेवक उन्हीं के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रकाश है ।

(४) मैं तुम्हें प्यार करती हूँ अभी तो तुम भी प्यार करते हो; मैं जितना प्यार करती हूँ उसका एक अंश भी तुम लोग मुझे प्यार नहीं करते, यह तुम लोग नहीं समझते ।

(५) भोग मात्र ही खाद्य है । इसीलिए होशियार रहना, ये खाद्य तुम्हें न खा जायें तुम हमेशा खाद्य को आत्माधीन रखने की चेष्टा करो ।

(६) मेरी बात में विश्वास रख कर जप करो, निश्चय ही फल पाओगे ।

(७) शुभ कर्म करते-करते अशुभ संस्कार जल कर भस्म हो जाते हैं, शुभ संस्कार बढ़ते ही चलते हैं। क्रमानुसार वे भी लुप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार लकड़ी की आग उत्पन्न होती है, और उसी आग में लकड़ी जल जाती है और अन्त में अग्नि भी समाप्त हो जाती है।

(८) प्रतिदिन निर्दिष्ट समय भगवान् के निकट यह प्रार्थना करो, "हे अन्तर्यामी देवता प्रत्येक प्राणी के हृदय में तुम अपने प्रति भक्ति और अनुराग जगाओ। सांसारिक चिन्ता में दुःखी मन-बुद्धि, चित्त और अहंकार को पुकार कर कहो 'देखो तुम लोगों के प्रभु के पास जा रहा हूँ, तुम रास्ता छोड़ दो।' यह कह कर निश्चल मन से आसन पर बैठो।

(९) हर समय जितना कर सको उतना मन को खेल में लगाये रखो, उन्हीं के खेल में उनका नाम, रूप, गुण, वाणी, महिमा कुछ भी लिपे हो जितना अधिक समय तक हो सके, उसी खेल में मस्त होने की चेष्टा करो। हो नहीं रहा, हुआ नहीं या होगा नहीं इस भाव के वश होकर मत बैठो। हमेशा याद रखो कि 'हो नहीं रहा है' यह मेरी ही गलती है। अपने को जीतना है ऐसा कह अपने द्वारा अपने को जीतो। 'मैं' पर जोर दो। 'मैं' उन्हें बुलाऊँगा, उनके साथ 'मैं' खेलूँगा, उनकी पूजा भी 'मैं' करूँगा।

(१०) मालिक के साथ हर समय सम्बन्ध योग रखने की चेष्टा करो। शिशु सो रहा है और माँ-बाप कुछ खबर न लें यह सर्वथा असम्भव है। जहाँ भी रहो घर हो, आफिस हो भगवान् को स्मरण कर सकते हो। वन जंगल में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

(११) भगवान् के साथ तुम्हारा सम्बन्ध है। यदि उसे नहीं समझ सकते तो अन्य कोई सम्बन्ध स्थापित करो, उन्हें पिता, माता, भाई, बहन जो इच्छा हो वही बनाओ। ऐसा करने से सुख पाओगे। उन्हें छोड़कर तो संसार में कुछ भी नहीं है।

(१२) किसी खाली कमरे में खड़े होकर आवाज करोगे तो उसकी प्रतिध्वनि होगी। उसी प्रकार मन को जितना खाली करोगे तुम्हारा स्वरूप आप ही प्रकाशित हो उठेगा। जिसे जैसा अच्छा लगे उसी भाव से उनको पुकारो, उनकी महिमा गाओ और उनमें अपनी कामनाएँ विलीन कर दो, वह अपने स्वरूप में दर्शन देंगे।

भाईजी की बारह वाणियाँ

श्री श्री माँ के भक्त यह बारह बातें हमेशा याद रखें—

(१) भगवान् या ईश्वर कहने से हमारी धारणा में जो सम्मुख आता है वही माँ का मूर्त प्रकाश है। उनका शरीर और क्रीडाकौतुक सभी अप्राकृतिक और असाधारण हैं—ऐसी बुद्धि से प्रतिष्ठित हो सब कर्म ध्यान और ज्ञान में उन्हें उपास्य देवी मान कर उनके चरण-कमलों को हृदय में स्थापित कर सकने पर परमार्थपथ में अन्य किसी आश्रय की आवश्यकता न होगी।

(२) देहधारी से ऊँचा न मान सकने पर उनकी उदारता, कर्तव्यपरायणता, प्रसन्नता, सौम्यता, समभाव आदि किसी एक गुण को आदर्श मान कर चलो।

(३) उनके हावभाव, बातें, हँसी-तमाशे, चलने-फिरने, खाने-पहनने आदि के साथ सौभाग्यवश किसी का संयोग हो तो साधारण बुद्धि से अपने को खो बैठना नहीं चाहिए वरन् सहिष्णुता के साथ उनके प्रत्येक कार्यकलाप के विशेषत्व तथा माधुर्य की हृदय में उपलब्धि करनी चाहिये।

(४) वे स्वाधीन हैं, इच्छा व अनिच्छा बद्ध जीव का धर्म है। वे इच्छा से कुछ कहतीं या बोलतीं नहीं हैं। हम लोगों का जैसा प्रयोजन है उसके अनुसार उनमें महती इच्छा का स्फुरण होता है।

(५) उनके द्वारा अथवा उनकी दृष्टि के द्वारा हम लोगों की बुद्धि-विवेचना के अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ घटे उसमें कुछ निगूढ़ रहस्य छिपा है ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर बिना प्रतिवाद शान्त मन से सब ग्रहण करना चाहिये।

(६) किसी को सुकृति के फलस्वरूप यदि माँ उसे आदेश दें तो बिना कुछ सोचे, बिना दुविधा किये उसका प्रतिपालन करना चाहिये, कभी भूल से भी माँ की इच्छा और अपनी इच्छा मिलाने की चेष्टा न करो।

(७) उनको उन्हीं के भाव में (अपने को चाहे अच्छा लगे या बुरा) जितना रख सको उसी में जगत् का मंगल है। कभी इसके विपरित न हो इसका ध्यान रखो। उनके किसी भी काम में, यहाँ तक कि शरीर रक्षी सम्बन्धी सुविधाओं में भी हमारी बुद्धिविवेचना व्यर्थ है, उनका संकेत पाने पर उसका प्रतिपालन करो अन्यथा चुपचाप देखते-सुनते रहना ही अच्छा है।

(८) भगवान् की चिन्तां करो, यही भिक्षा वह सबसे माँगती हैं। उनकी सेवादि की अपेक्षा, साधन-भजन कर उनका कृपा-लाभ करना सहज है।

(९) उनके पास आने पर चरण स्पर्श की इच्छा जागे तो उस समय चित्त दर्पण की भाँति स्वच्छ होना आवश्यक है। जो जितना भूखा, प्यासा, श्रद्धाशील तथा शरणागत हो सकेगा उतना ही वह उनके अमृत-स्पर्श से तृप्ति कर सकेगा।

(१०) उनके निकट कुछ भेद-भाव नहीं है, अपना भाव ही उनके आकर्षण या विकर्षण का सूत्र है। जैसी जिसकी भावना

वैसी उसकी सिद्धि । उनके पास जो जितना शून्य मन और शरीर लेकर जायगा वह उतने सहज में पूर्णता की ओर अग्रसर होगा ।

(११) उनके श्रीमुख की कोई भी बात व्यर्थ नहीं होती एवं उनकी स्मृति काल के बन्धन के अतीत है, यह स्मरण रखना आवश्यक है ।

(१२) प्रारब्ध को मिटाने के लिए उत्कट तपस्या की आवश्यकता है । शोक-दुःख आदि हमारे प्रारब्ध में अवश्यम्भावी फल हैं—यह मन में निश्चय कर हर समय सुख-दुःख में उनकी कृपादृष्टि पर विश्वास कर चलना चाहिये ।

